ARYAVART SHODH VIKAS PATRIKA
RNI TITLED NO. UPBIL04292
RNI REG. NO. UPBIL/2014/66218 PP. NO.- 147-149

ISSN NO.-2347-2944 (Print)
e-ISSN NO.-2582-2454 (Online)
Vol.-14, No.-I, Issues-19, YEAR- March-2021

धर्म की सार्वभौमिकता : संक्षिप्त अध्ययन

मनोज कुमार

E-mail: aaryvart2013@gmail-com

Received- 12.02.2021, Revised- 17.02.2021, Accepted - 20.02.2021

सारांश : ***धर्म मानव जीवन का अनिवार्य पक्ष है। सामान्यतः जीवन में उन वस्तुओं को अनिवार्य माना जाता है, जो हमारी दैनिक जरूरतों को पूरा करती है। रोटी, कपड़ा और मकान इस दृष्टिकोण से अनिवार्य माने जाते हैं। सच भी है क्योंकि इनसे हमारी शारीरिक–भौतिक जरूरतों की पूर्ति होती है। पर यह भी महत्वपूर्ण है कि जीवन मात्र इन जरूरतों तक ही सीमित नहीं है। समाज में हम देखते हैं कि इन जरूरतों को उत्तम तरीके से पूरा करने वाला व्यक्ति भी एक प्रकार की ऊब या बेचैनी में होता है। वह मात्र इन जरूरतों को पूरा कर संतुष्ट नहीं है। वह भौतिक सम्पन्नता से इतर कुछ उच्चतर आकांक्षाओं की पूर्ति करना चाहता है। यह भी जीवन की अनिवार्य आवश्यकता है जो व्यक्ति को धर्म की ओर प्रवृत्त करता है। बहुत से विद्वान ऐसे हैं जो यह मानते हैं कि बिना धर्म की ओर प्रवृत्त हुए भी जीवन सहज व सुचारू रूप से चल सकता है। धर्म की जीवन में अनिवार्यता से उनको इंकार है। पर सत्य यह है कि जिसे वे धर्म समझते हैं वह धर्म की बाह्य अभिव्यक्तियां, आवरण व साहचर्य होते हैं। धर्म की वास्तविकता या मर्म उच्चतर आकांक्षाओं में है। धर्म का स्थान भौतिकता से ऊपर है।***

कुंजीभूत शब्द– दैनिक जरूरतें, शारीरिक–भौतिक, उच्चतर आकांक्षाऐं।

मानव के द्वारा धर्म का पूर्ण त्याग नहीं हो सकता। जब धर्म के त्याग की बात की जाती है तो धर्म का त्याग ही 'धर्म' बन जाता है। धर्म हर काल एवं हर संस्कृति में जीवित रहा है। यह ऐतिहासिक तथ्य है। सामाजिक व राजनीतिक संस्थाओं का उदय, विकास व विनाश के किस्से सुने जा सकते हैं किन्तु धर्म का पूर्ण विनाश कभी नहीं सुना गया। धर्म के उन्मूलन के साथ एक बदला हुआ धर्म प्रकट हो जाता है। जब कभी ऐसा प्रतीत हुआ है कि धर्म का विनाश हो रहा है, तब किसी न किसी रूप में धर्म की पुर्नस्थापना हुई है। धर्म की उत्पत्ति के कारणों व सिद्धान्तों का अध्ययन इस तथ्य से अवगत कराता कि मनुष्य धर्म के साथ ही विकसित होता गया है। धर्म की उत्पत्ति के दो प्रमुख सिद्धान्त दृष्टि में आते हैं। एक जीवात्मवाद का सिद्धान्त है तथा दूसरा यह स्थापित करता है कि धर्म की उत्पत्ति परात्म की ओर उन्मुख होने में होती है। जीवात्मवाद की मान्यतानुसार किसी न किसी प्रकार के जीवात्म–पूजा में धर्म का प्रारंभ हुआ है, वह पूजा मृत आत्म की हो, पूर्वजों का हो, या अन्य किसी जीव शक्ति का। कुछ प्राकृतिक शक्यिों से ऐसा डर उत्पन्न हुआ कि लोगों ने एक पराशक्ति की कल्पना कर डाली तथा उसकी पूजा करने लगे। धर्म की उत्पत्ति में यही बातें कारक सिद्ध हुई हैं। धर्म की उत्पत्ति जीवात्म पूजा एवं प्रकृति पूजा के द्वारा ही संभव हुई है। धर्म के प्रारम्भ से लेकर जब इसकी विकास यात्रा का अध्ययन किया जाता है तो यह ज्ञात होता है कि जीवात्म–पूजा से उत्पन्न धर्म अधिक स्थुल रूपों में था, इसका विकास भी क्रमशः धीरे–धीरे हुआ है। जबकि प्रकृति पूजा से उदभूत धर्मों में एक परा–शक्ति की कल्पना और उसके बाद उस शक्ति के स्वरूप की कल्पना इसे अधिक स्पष्ट व विकसित रूपों में प्रस्तुत करता है। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि धर्म की उत्पत्ति में दोनों सिद्धान्तों में एक महत्वपूर्ण समानता है– वह यह कि दोनों में इन्द्रियों से ऊपर उठने की वृति विद्यमान है। इसे थोड़ा और स्पश्ट ढंग से समझा जा सकता है।

प्राचीनतम मानव के लिए मृत्यु एक भयकारी एवं विस्मयकारी घटना थी। मृत्यु होने पर एक चलता–फिरता व्यक्ति अचानक से स्थिर निर्जीव हो जाता है। उस समय का व्यक्ति मात्र इन्द्रियों की मदद से इसके कारणों को समझ नहीं सकता था। इन्द्रियाँ तो जीवन को देख सकती हैं, मृत्यु का साक्षात्कार उसके द्वारा संभव नहीं है। इन्द्रियों की पकड़ से बाहर की यह समस्या उसकी एक बड़ी व वास्तविक समस्या थी जो उसे अन्य जगत में ले गयी। यहीं से जीवात्म पूजा का रूप सामने आया। ठीक वैसे ही भारी वर्शा, बाढ़, तूफान, बिजली की चमक व कड़क, आग जैसी सत्ताओं की समझ आदि मानवों में नहीं थी। अतः उन्होंने इनके पीछे विशिष्ट शक्तियों को मान लिया जो प्रकृति पूजा के रूप में सामने आती हैं। वस्तुतः जीवात्म पूजा एवं प्रकृति पूजा दोनों इन्द्रियों से ऊपर उठने के प्रयत्न है।

इन्हीं प्रयत्नों में धर्म का उद्भव हुआ है। धर्म की यात्रा में इतने सारे मोड़ आए हैं कि धर्म को एक बारगी स्पष्ट करना या परिभाशा में बांधना संभव नहीं है। धर्म के अगणित रूप व असंख्य परिभाषाएं प्राप्त होती हैं। उनमें से कोई धर्म के सभी पक्षों को पूर्ण तथा समाविष्ट नहीं कर पाता। धर्म के स्वरूप को समझने का श्रेष्ठ तरीका यह हो सकता है कि हम यह देखें कि किन बातों का होना धार्मिक क्रियाओं के लिए अनिवार्य है। धर्म के दो पक्ष होते हैं– आन्तरिक एवं बाह्य। बाह्य पक्ष अनावश्यक या अप्रासंगिक नहीं होता। आतंरिक पक्ष के साथ इसका सम्बन्ध धर्म के मूल स्वरूप को प्रत्यक्ष करता है। जब बाह्य पक्ष धर्म के आतंरिक पक्ष के अनुकूल व अनुरूप होता है तो धर्म की धार्मिकता स्पष्ट होती है। धार्मिकता

एशो० प्रोफेसर– दर्शनशास्त्र विभाग, म०मो०मा०स्ना०महाविद्यालय, भाटपार रानी, देवरिया (उ०प्र०), भारत

अनुरूपी लेखक

ISSN NO.-2347-2944 (Print)
e-ISSN NO.-2582-2454 (Online)
Vol.-14, No.-I, Issues-19, YEAR- March-2021

धार्मिक चेतना है, वास्तव में धर्म बोध है। धार्मिक चेतना सार्वभौम है, प्रत्येक व्यक्ति में है। जो स्वयं को नास्तिक समझते हैं, उनमें भी यह चेतना होती है। धार्मिकता का विश्लेषण करते हुए स्वामी विवेकानंद ने कहा है कि धार्मिकता में मानसिकता के तीनों अंश मौजूद होते हैं– ज्ञानात्मक, भावनात्मक एवं क्रियात्मक। जिस धर्म में जिस अंश की प्रधानता होती है उस धर्म को उसी के अनुरूप समझा जाता है। जिस धर्म में ज्ञान की प्रधानता होती है वह बौद्धिक या अमुर्त्त हो जाता है। जिस धर्म में भावना या भक्ति की प्रधानता होती है उसे भक्ति मार्गी व मौलिक रूप से आस्थामूलक धर्म कहा जाता है। जिस धर्म का क्रियात्मक पक्ष व विधान समृद्ध होता है वे कर्म प्रधान धर्म माने जाते हैं। धर्म की एक विशिष्टता यह भी होती है कि उसमें दैविक या अतिप्राकृतिक अंश होते ही हैं। यह अंश किसी भी रूप में हो सकता है। वह एक व्यक्तित्वपूर्ण ईश्वर हो सकता है, निरपेक्ष सत् हो सकता है, ब्रह्म, कोई नियति या चरम भाग्य जैसा अतिप्राकृतिक विधान हो सकता है। धर्म मानव चेतना को ऐसे ही किसी विषय की ओर उन्मुख करता है। धर्म की यह यात्रा इन्द्रियों की सीमा, बौद्धिक व्याख्या इत्यादि से ऊपर होती हुई इन्द्रियातीत अथवा अतिबौद्धिक सत्ता तक चलती चली जाती है। धर्म की मंजिल भी यही है। यहाँ से व्यक्ति में ज्ञान की नवीन धारा प्रवाहित होती है जो उसे आध्यात्मिक बनाता है। धर्म के द्वारा व्यक्ति में ईश्वरत्व जागता है। व्यक्ति अपने को सम्पूर्ण अस्तित्व से एकाकार पाता है। अब उसके कर्म सामाजिक एवं लोक कल्याण के निमित्त होते हैं। अब व्यक्ति सांसारिक क्लेशों, लिप्साओं एवं अशुभ रूपों से ऊपर उठता चला जाता है। वह परम शांति एवं आनन्द से सराबोर होता जाता है।

यहाँ पर ध्यान देने की बात यह है कि वास्तविक धर्म तथा साम्प्रदायिक धर्म में अन्तर है। धर्म के विरूद्ध जो आपत्तियाँ या ऐतिहासिक साक्ष्य लाए जाते हैं वे धार्मिक–सम्प्रदायों से संचालित धर्मों के होते हैं। संस्था या सम्प्रदाय धर्म को सीमित व विकृत करते हैं। इन्हीं रूपों में धार्मिक द्वेष तथा आपसी संघर्ष के बीज मौजूद होते हैं। वास्तविक धर्म संस्था एवं सम्प्रदायों का धर्म नहीं है। वह तो सार्वभौम चेतना है। धर्म की सार्वभौमता धर्म का सार है। वास्तविक धर्म बंधा हुआ नहीं है। संसार में धर्मों की, धर्म शाखाओं की विविधता पायी जाती है। प्रत्येक धर्म के तीन अनिवार्य अंग होते हैं– वैचारिक पक्ष, मिथिक पक्ष एवं कर्म का पक्ष। धर्म के वैचारिक या दार्शनिक पक्ष में आदर्श, सिद्धान्त, चरम लक्ष्य एवं लक्ष्य प्राप्ति के उपायों की व्याख्या व विवरण होता है। यह पक्ष अत्यंत जटिल होता है। धर्म इन्हें मूर्त्त रूप में ढ़ालने का प्रयत्न करता है जिससे कि सामान्य जन को इसकी अवगति हो सके। इसी प्रयत्न में वह अतिमानवीय षक्तियों को देव रूप, मूर्त्त रूप देकर गाथाओं एवं मिथकों का अविष्कार करता है। यह धर्म का मिथक पक्ष है। धर्म का एक पक्ष कर्म का, रीति–रिवाजों धार्मिक–क्रियाओं का भी है। इस पक्ष का महत्व व मूल्य इस बात में है कि एक ओर तो इन कर्मों के माध्यम से धार्मिक विश्वास में आस्था एवं अभिरूचि बनाए रखने का साधन बनता है तथा दूसरी ओर धार्मिक संगठन व व्यवस्था का आधार बनता है। विभिन्न धर्मों की उपरोक्त विविधताएं इनके बीच संघर्ष व वैमनस्य का कारण बनती हैं। किन्तु धर्म यदि वास्तविक है, सम्प्रदाय संचालित नहीं है तो वह इन बुराईयों से परे सार्वभौम होता है। यदि धर्मों को वास्तविक धर्म में परिवर्तित होना हो तो उन्हें समान दर्शन, मिथक एवं कर्मों का अनुगामी होना होगा। हालांकि ऐसा होना काफी दुष्कर व संदेह युक्त है, फिर भी सार्वभौम धर्म की अवधारणा को साकार किया जा सकता है। सार्वभौम धर्म की परिकल्पना स्वामी विवेकानन्द ने की है। उनका मानना है कि सम्प्रदाय का अनुसरण करना उसके नियमों एवं रूढ़ियों का पालन करना मात्र बुद्धि की अविकसित अवस्था तक ही उचित है। परिपक्व मनस के लिए जो अपेक्षित है वह यह है कि या तो वह सम्प्रदाय को विस्तृत–विकसित करे या स्वयं उससे बाहर चला जाए। सार्वभौम धर्म में धार्मिक विरोध एवं वैमनस्य के लिए कोई स्थान नहीं है। स्वामी विवेकानंद का यह भी मानना है कि जन्म को आधार बनाकर धर्म का निर्धारण नहीं होना चाहिए। व्यक्ति को यह स्वतंत्रता होनी चाहिए कि वह अपनी मनोवृति एवं सुविधा के अनुरूप धर्म का चयन करे। ऐसा होने पर धर्म में विद्यमान रूढ़िवादिताओं व संकिर्णताओं का निराकरण हो सकेगा। सार्वभौम धर्म किसी समूह या कबीले का धर्म नहीं है बल्कि सम्पूर्ण मानवता का धर्म है। एक स्थल पर स्वामी विवेकानंद ने कहा है कि सार्वभौम धर्म ईसाई, बौद्ध, हिन्दू या इस्लाम के तत्वों तक ही सीमित नहीं होगा। यह सभी धर्मों का योगफल भी नहीं बल्कि इन सभी से व्यापक व सर्वकल्याणकारी होगा। सार्वभौम धर्म धार्मिक जड़ताओं से मुक्त होगा। सम्प्रदाय पोशित धर्मों में तात्विक भेद नहीं होता बल्कि सतही भेद होता है– यही सतही भेद धर्मों के मौलिक स्वरूप पर आवरण का काम करता है। यह भी सत्य है कि संघर्ष वैचारिक भिन्नता एवं विवाद प्रकृति के अनिवार्य सोपान हैं। यदि मतभेद हो ही नहीं, प्रत्येक व्यक्ति एक ही तरह से विचार करे तो शीघ्र ही विचार बन्ध जाएगा, उसकी यात्रा रूक जाएगी। धर्मों की विविधता एवं भेद का भी यहाँ औचित्य है जो उनके होने एवं बढ़ने के लिए अनिवार्य हो जाता है। धर्मों के ये मतभेद शाश्वत नहीं होते। बस दृष्टिकोण बदलने एवं मर्म समझने भर की बात है। सबका लक्ष्य एक ही है– ससीम को असीम का साक्षात्कार करना। यह असीम सत् जो एक है, ईश्वर है। चाहे उस परम तत्व का नाम कुछ भी ले लिया जाए। सभी धर्म वास्तव में इसी परम तत्व तक पहुँचने के विभिन्न मार्ग हैं। नदिया एक घाट बहुतेरे।

सार्वभौम धर्म को साकार करने के दो मूल मंत्र हैं– उत्कृष्ट चेतना व विशाल ह्रदय तथा समाहित करने की सम्पूर्ण क्षमता। धर्म की सार्वभौमता के लिए

ISSN NO.-2347-2944 (Print)
e-ISSN NO.-2582-2454 (Online)
Vol.-14, No.-I, Issues-19, YEAR- March-2021

यह आवश्यक है कि यह देश काल की सीमा में कैद न हो। सबके लिए इसके द्वार खुले हो। यह समझ विकसित होनी चाहिए कि जो कुछ भूतकाल में हुआ है, उन सबको अपना लेना चाहिए तथा उसके लिए ह्रदय की खिड़की को खोल देना चाहिए जो भविष्य में आने वाला हो। सार्वभौम धर्म में यह क्षमता भी होनी चाहिए कि वह विभिन्न आचार, व्यवहार, विष्वास एवं धार्मिक संस्थाओं को संतुष्ट कर उन्हें अपने में समाहित कर ले।

विवेकानंद यह भी मानते हैं कि प्रत्येक धर्म सार्वभौम धर्म है। यह बात दूसरी है कि इनको संस्थागत रूप देकर जड़ता एवं रूढ़िवादिता की जंजीरों में जकड़ दिया गया है। धर्म का अनुचित उपयोग करने वाले, इसको आधार बनाकर धार्मिक व्यक्तियों के विश्वास से खिलवाड़ करने वाले धर्म के छद्म रहनुमाओं ने धर्म की सार्वभौम प्रकृति को कैद कर लिया है। जरूरत केवल उनके छद्म चेहरों को पहचानने की है, फिर तो सभी धर्म सार्वभौम है। स्वामी विवेकानंद ने सार्वभौम धर्म बनने की सर्वाधिक क्षमता हिन्दू धर्म में पाया है। सत्य भी है क्योंकि इस सनातन धर्म की अनेकानेक शाखाएं हैं, विश्वास हैं, आराध्य हैं भिन्न–भिन्न धार्मिक विधान हैं। विवेकानंद को इस बात की अवगति है कि हिन्दू धर्म में भी पुजारियों व कट्टरवादियों की एक श्रृंखला है जो अपने–अपने स्वार्थ में लगे दिखते हैं। उन्होंने हिन्दू धर्म के मौलिक रूपों में काफी कुछ बदल सा दिया है। किन्तु विवेकानंद का हिन्दू धर्म वह है जिसका आधार वेदान्त है। उनका मानना है कि वेदान्त उस विशाल सागर के समान है, जिसके वक्ष पर युद्धपोत तथा साधारण बेड़ा दोनों साथ–साथ रह सकते हैं। वेदान्त में यथार्थ योगी, मूर्तिपूजक, एवं नास्तिक सभी के लिए स्थान है। इतना ही नहीं वेदान्त सागर में हिन्दू, मुसलमान, ईसाई और पारसी सब एक समान हैं। यदि उपरोक्त मानसिकता से धर्म–स्थित हुआ जाए तो सभी धर्मों की समानता के दर्शन हो सकते हैं। वास्तव में सभी धर्मों में विद्यमान समान बिन्दू हैं–ईश्वर। यह सत्य है कि जहाँ विभिन्नताएं रहती हैं वहाँ एकता भी रहती हैं। सभी स्त्री व पुरुष एक दूसरे से भिन्न हैं, किन्तु वे सब मानव तो हैं ही। सभी पेड़–पौधे, जानवर, पक्षी एक दूसरे से भिन्न हैं किन्तु वे जीव तो हैं ही। ठीक वैसे ही धर्म एक दूसरे से भिन्न हैं किन्तु वे धर्म तो हैं ही। इस समानता का आधार सभी धर्मों का केन्द्र ईश्वर है। ईश्वर जो व्यक्तित्वपूर्ण व करूणा का धाम हो सकता है, विश्व की अन्तिम शक्ति हो सकती है, परम तत्व या ब्रह्म हो सकता है। यदि ईश्वर को इन व्यापक अर्थों में समझा जाए तो तथ्य निकलता है कि सभी धर्मों का चरम लक्ष्य ईश्वर–प्राप्ति है। अतः ईश्वर सभी धर्मों का सार्वभौम आदर्श है। वस्तुतः सभी धर्म अपनी वास्तविकता में सार्वभौम है।

संदर्भ ग्रन्थ सूची

1. सामान्य धर्म दर्शन – या0 मसीह, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली।
2. धर्म दर्शन परिचय– डॉ0 ह्रदय नारायण मिश्र शेखर प्रकाशन, इलाहाबाद।
3. समकालीन भारतीय दर्शन – बसन्त कुमार लाल, मोतीलाल बनारसीदास।
4. विश्व धर्म – डॉ0 ह्रदय नारायण मिश्र, शेखर प्रकाशन, इलाहाबाद।
5. कर्म योग – स्वामी विवेकानंद मेपल प्रेस
6. वेदान्त दर्शन – हरिकृष्ण दास गोयनका, गीता प्रेस, गोरखपुर।

*****